सामाजिक परिवर्तन और बी एस पी

एच.एल. दुसाध

सामाजिक परिवर्तन और बीएसपी

एच.एल. दुसाध

सम्यक प्रकाशन

प्रथम संस्करण : 2005 (बुद्धाब्द 2549)
द्वितीय संस्करण : 2012 (बुद्धाब्द 2556)
तृतीय संस्करण : 2021 (बुद्धाब्द 2565)

ISBN : 978-93-90841-66-0

प्रकाशक : **सम्यक प्रकाशन**
32/3, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली—110063
दूरभाष : 9810161823, 9810249352
Email : hellosamyak1965@gmail.com
Web : www.samyakprakashan.in

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

मूल्य : 225 रुपये

रचना : **सामाजिक परिवर्तन और बीएसपी**
रचनाकार : एच.एल. दुसाध
आवरण : शान्त कला निकेतन
शब्दांकन : संदीप आर्ट एण्ड ग्राफिक्स

मुद्रक : बालाजी ऑफसेट प्रिंटर्स, नई दिल्ली

Samajik Parivartan Aur BSP (Hindi) by H.L. Dusadh

कांशीरामवाद

के प्रति समर्पित

आयरन लेडी

मायावती जी

को,

जिन्होंने एकाधिक बार

मुख्यमंत्री बनकर

हिन्दू ईश्वर व शास्त्रों को

भ्रान्त प्रमाणित करने के साथ ही बहुजनों में

शासक बनने की महत्वाकांक्षा में भारी इजाफा

कर दिया

भूमिका

यह स्थापित सत्य है कि 'सामाजिक संरचना' में निर्धारित कमेरों की भूमिका के कारण दलित समाज में ज्ञान को लिपिबद्ध करने की परंपरा का सर्वथा अभाव रहा है। समाज में धार्मिक आधार पर वैध ठहराई गई भूमिका के कारण दलितों को प्रकृति से अंतरक्रिया कर अपने तथा समाज के लिए संसाधन एकत्र करने होते थे। यानि कि श्रम परिश्रम एवं उत्पादन ये थी उनकी पूंजी जो कलात्मकता, कल्पनाशीलता तथा अन्वेषणों एव अविष्कारों से भरी हुई थी। परंतु शब्दों में, ज्ञान एवं विज्ञान आदि को लिपिबद्ध करने का उनको अधिकार नहीं था। इसलिए ही तथाकथित सवर्णों में व्याप्त कोडीफाइड ज्ञान की परंपरा के विपरीत दलितों में मौखिक ज्ञान (Oral tradition of knowledge) की परंपरा विद्यमान थी। अत: दलित समुदाय जो भी ज्ञान एकत्रित करता, वह मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित कर देता था।

लिखित ज्ञान (Codified knowledge) की परंपरा न होने के कारण ही दलितों में ज्ञान, विज्ञान, कला, कल्पना, सौंदर्य, अविष्कारों का अपार भंडार होते हुए भी अपना कहने के लिए कुछ नहीं था। उनको उनके ही ज्ञान से वंचित कर उन्हें योग्यता विहीन कह कर परिभाषित किया गया। इसके विपरीत उत्पादन की परंपरा का सरासर अभाव होते हुए भी सवर्णों/ब्राह्मणों को योग्य घोषित कर महिमामंडित किया गया। महात्मा फुले ने ब्राह्मणों से एक बार प्रश्न किया था कि *क्या किसी ब्राह्मण ने खेतों में अन्न उपजाने हेतु कभी अपने हाथों को मल से साना है ?* यानी कि क्या ब्राह्मण या अन्य तथाकथित उच्च वर्ण ने खेतों में कभी अन्न उपजाया है ? मेरा तो मानना है अन्न ही नहीं, हमें पूछना चाहिए कि तथाकथित उच्च वर्ण के सदस्यों के समाज में ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका निर्माण उन्होंने अपने हाथों से किया है ? मुझे विश्वास है कि उत्तर नकारात्मक ही होगा। अत: जब तथाकथित सवर्णों ने इस समाज में कोई उत्पादन किया ही नहीं, तो फिर ज्ञान, विज्ञान, अविष्कार तथा कलात्मकता भी उनकी नहीं हुई और तार्किक आधार पर फिर यह सब तो दलितों का है। तो फिर सवर्ण अयोग्य तथा दलित योग्य हुए।

दलितों की इस स्थापित भूमिका (Role) एवं प्रस्थिति (Status) को नवीन दृष्टिकोण या परिपेक्ष्य से विश्लेषित एवं परिभाषित करने हेतु दलितों को अपने ज्ञान, विज्ञान, श्रम, परिश्रम, कलात्मकता, कल्पनाशीलता, आविष्कार, शोध आदि पर पुन: स्वत्व स्थापित करना होगा। इस प्रक्रिया में जितना आवश्यक है कि दलित समाज के सदस्यों की सकारात्मक छवि को चिन्हित कर प्रचारित किया जाए उतना ही यह भी आवश्यक है कि तथाकथित सवर्ण समाज के सदस्यों की नकारात्मक छवि द्वारा समाज को उनका वास्तविक चेहरा दिखाया जाए। एच.एल. दुसाध की यह पुस्तक इसी दिशा में एक निर्भीक तथा साहसिक कदम है।

इटली के मशहूर एवं क्रांतिकारी लेखक एन्टोनियो ग्राम्शी ने वर्चस्व यानि हेजीमोनी के सिद्धांत को परिभाषित करते हुए कहा था कि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर वैचारिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करना ही वर्चस्वता या हेजीमोनी है। यह प्रभुत्व/वर्चस्व *'बनावटी सर्वसम्मति'* द्वारा सामाजिक संस्थाओं एवं सांस्कृतिक संरचनाओं में निहित तत्वों के माध्यम से किया जाता है। ग्राम्शी के अनुसार पूंजीपति समाज, समाज की प्रमुख संस्थाओं जिसमें धार्मिक, न्यायपालिका, शिक्षा, प्रचार माध्यम (प्रेस मीडिया) द्वारा ऐसे विचारों को एवं विश्वासों को प्रोत्साहित करता है, जो शासक वर्ग को ही लाभान्वित करते हैं। ग्राम्शी का मानना था कि 'राज्य' (State) ही नहीं *'नागर समाज'* (Civil Society) भी इसलिए शोषित समाज के शोषण में सहयोग करती है। इस संदर्भ में ग्राम्शी कमेरों को आगाह करता है कि अगर शासक वर्ग की वर्चस्वता को तोड़ना है, तो शोषित वर्ग की 'वैकल्पिक वर्चस्वता' स्थापित करनी होगी।[1] इसलिए उन्हें स्थापित सामाजिक मूल्यों, संरचनाओं तथा संस्थाओं को अपने दृष्टिकोण से विश्लेषित कर खंडित करना होगा।

दुसाध जी की यह पुस्तक अनजाने ही ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित 'वर्चस्वता' के सिद्धांत को रेखांकित करती है। ग्राम्शी ने यद्यपि यह सिद्धांत इटली के तत्कालीन समाज में चिन्हित किया था, परंतु दुसाध इस सिद्धांत को वर्तमान भारतीय समाज में कैसे क्रियान्वित हो रहा है, दिखा रहे हैं। इसलिए पुस्तक में उनके लेखों में राज्य सत्ता, धर्म, न्याय व्यवस्था, शिक्षा, प्रचार माध्यम, खेल आदि अनेक सामाजिक संस्थाओं का वस्तुनिष्ठ आंकलन देखने को मिलता है। धार्मिक वर्चस्वता का उल्लेख वे ज्योतिबा फुले के जीवन काल से आरंभ कर पेरियार, बाबा साहेब आंबेडकर, कांशीराम तक ले आते हैं तथा हिंदूवादी वर्तमान संगठनों के छद्म को अपनी पैनी दृष्टि से चिन्हित करते हैं और उसके *'वैशिष्ट्य ज्ञान संकोचन'* को भी उजागर कतरे हैं। साथ ही ब्राह्मणी सत्ता को वे अल्पमत में बताते हैं। ब्राह्मणवाद से टकराने तथा उसका विनाश करने हेतु दुसाध फुले, पेरियार तथा आंबेडकर आदि दलित एवं पिछड़े समुदाय के चिंतकों एवं मनीषियों के विचारों को प्रेषित करते हैं। परंतु उनके विचारों का आंकलन दुसाध का अपना ओरिजनल आंकलन है। वे किसी स्थापित विचारक एवं मनीषी से उधार नहीं मांगते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है उनकी अपनी शब्दावली तथा अपने सिद्धांत जैसे–दलितों की दयनीय दशा को वे 'दैविक-दासता' का शिकार कहकर परिभाषित करते हैं। अपने शैक्षणिक जीवन में मैंने यह शब्द या कानसेप्ट पहले कभी नहीं सुना या पढ़ा। दूसरा उदाहरण देखें, *लोकतंत्र को अपंग बनाने वाली चेतना का उत्स वर्ण/जाति व्यवस्था है।. ..... भारत के वर्ण-व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई देश की संपदा व लाभकारी पेशों का असमान वितरण है। .....भारत की वर्ण-व्यवस्था जिसे हिंदू आरक्षण व्यवस्था कहना ज्यादा सही होगा, में शिक्षा, भूमि, संपदा, व्यवसाय-वाणिज्य का अधिकार मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों में ही वितरित रहा। लेकिन शूद्रातिशूद्र पूरी तरह वितरणहीनता के शिकार रहे।* अत: हम देखते हैं कि दुसाध का भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आंकलन सामान्य दलित आंकलनों से मात्रात्मक रूप से भिन्न है, जो अत्यंत उच्चकोटि के थियोरेटीशिन के कलम का कमाल है। वरना साधारणतया दलित समुदाय समाज में अपनी सामाजिक व्यवस्था को सामाजिक वंचना

के एकांगी दृष्टिकोण से देखता है। परंतु दुसाध इसे वितरण व्यवस्था कें अंतर्गत आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक संस्थाओं की समग्रता में परिभाषित करते हैं। वितरण (Distribution) तथा आरक्षण (Reservation) के अंतर्द्वंदवाद (Dilecticism) को अभी तक भारतीय व्यवस्था में किसी ने चिन्हित नहीं किया था। इसलिए दुसाध की कुशाग्र बुद्धि तथा पैनी दृष्टि दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

प्रचारतंत्र ने भारतीय तथाकथित उच्च वर्ण के वर्चस्व को स्थापित ही नहीं किया,उस वर्चस्व को यथावत किस तरह कायम रखा है, इन कारकों की खोज करते हुए अपने लेख 'हिंदू प्रचारतंत्र में बहुजन समाज' में दुसाध लिखते हैं कि वैदिक साहित्य ने दास जातियों के शोषण तथा घृणा की जमीन को तैयार किया। उनका मानना है कि *प्राचीनकाल की वैदिक मनीषा जहां मनुवाद को दृढ़ता प्रदान करने में जुटी रही, वहीं मध्ययुगीन मनीषा उसे पूर्ववत रखने में निमग्न रही..... तुलसी, सुर, मीरा के परवर्ती काल का बंकिम, टैगोर, प्रेमचंद, निराला, महादेवी वर्मा के युग का भारत भी मूलत: यथावतवादी ही रहा।'इसी क्रम में वे कहते हैं कि पश्चिम के वैज्ञानिक मनीषियों द्वारा सृष्ट सिनेमा, टी.वी. जैसे जन माध्यम भी उनकी उस मानसिकता से अछूते नहीं रहे हैं।* दुसाध बड़े भारी मन से लिखते हैं कि यद्यपि फिल्मों ने सवर्णों/ब्राह्मणों के वर्चस्व को तो चित्रित किया, परंतु उनकी निकृष्ट एवं दलितों की दयनीय दशा एवं शोषण को किंचित मात्र प्रदर्शित नहीं किया। उदाहरणार्थ, *कृत्रिमता और कृत्रिमता को ही दिखाने वाले भारतीय फिल्मकारों ने सर्वाधिक कृत्रिमता का परिचय बहुजन समाज को चित्रित करने में दिया है। वर्ण-व्यवस्था में मानवेतर बने बहुजन समाज का इन्होंने कभी यथार्थ चित्रण नहीं किया। पेशवाकाल के हिंदू राज का चित्रण तो किया, किंतु गले में थूकदानी और पदचिन्ह मिटाने के लिए कमर में झाड़ू बांधे दलितों को नहीं दिखाया.... जातिभेद के कारण देश में उत्पन्न विच्छिन्नता को नहीं दिखाया।* ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो श्री दुसाध अपने लेखों में उद्घाटित करते हैं, जिन सबका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। परंतु मैं समझता हूं कि तथाकथित सवर्णों के प्रचारतंत्र के माध्यम से अपनी वर्चस्वता को पहले स्थापित करने व फिर बाद में बनाए रखने को समझने के लिए ये उदाहरण पर्याप्त होंगे।

सही कहा गया है कि वास्तविकता (Reality), सामाजिकता (Socially) द्वारा निर्मित (Constructed) है। शास्त्रीय (Classical) समाजशास्त्रियों कार्ल मार्क्स तथा इमाइल दुर्खीम का भी यही मत है और वर्तमान समय में बर्जर तथा लकमैन ने भी अपना नवीन दृष्टिकोण रखा है।[2] अगर उपरोक्त सिद्धांत का परीक्षण लेखन के परिपेक्ष्य में किया जाए, तो हम क्या पाएंगे ? हम पाएंगे कि सामाजिक संरचना में आवंटित लेखक की प्रस्थित (Status) उसके ज्ञान के उत्पादन पर अभूतपूर्व प्रभाव डालती है। क्योंकि सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित द्वारा ही व्यक्ति को अधिकार, विशेषाधिकार एवं सेवा प्राप्त होते हैं, जो बाद में वंचना तथा संचय के रूप में सामने आते हैं तथा लेखक की चेतना का सृजन करते हैं और यह चेतना लेखक की रचनाओं में परिलक्षित होती है। अत: जिस लेखक की सामाजिक संरचना में प्रस्थित के कारण विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, उसके पक्ष में सामाजिक

संचय आएगा और उसकी चेतना में सर्वथा सामाजिक संरचना को यथास्थिति में बनाए रखने हेतु भाव होंगे, जो उसकी जितने भी बौद्धिक उत्पादन–लेखन, फिल्म, पत्रकारिता, साहित्य आदि में परिलक्षित होगा। इसके विपरीत जिस लेखक की सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित के कारण सेवा करने के ही अधिकार प्राप्त हुए हैं, उसके पक्ष में सामाजिक वंचना ही आएगी और उसकी चेतना पर यह वंचना अपना प्रभाव डालेगी और वह अपने बौद्धिक उत्पादनों में सामाजिक संरचना में संरचनात्मक परिवर्तन की बात करेगा।

उपरोक्त परिपेक्ष्य में अगर दलितों द्वारा उनके लेखन का परीक्षण किया जाए, तो हम यही पाएंगे। यह सभी जानते हैं कि भारतीय समाज में दलितों की संरचनात्मक ढांचे में क्या स्थिति है और इस दयनीय प्रस्थित के कारण उनके हिस्से में वंचना ही आई है। चाहे वह सामाजिक हो, आर्थिक या फिर राजनैतिक। इन्हीं वंचनाओं से ही दलितों की चेतना का सर्जन हुआ और जब उनकी चेतना का सर्जन वंचनाओं के आधार पर हुआ है, जो कि सवर्णों की चेतना से भिन्न है, क्योंकि वह संचय के आधार पर सृजित हुई है, तो उनके लेखन में सामाजिक संरचना में संरचनात्मक परिवर्तन के अनेक उपाय नजर आते हैं। शायद इसलिए ही ये लेखक समाज में घटित होने वाले विभिन्न कालक्रमों (Processes) को सवर्ण/ब्राह्मणों से भिन्न दृष्टिकोण से परिभाषित एवं वर्णित करते हैं।

एच.एल. दुसाध के लेखों का यह संग्रह उनकी सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित के कारण विकसित चेतना को अभिव्यक्त करता है। इस कारण ही वे भारतीय समाज में घटित होने वाले अनेक कालक्रमों का सवर्ण लेखकों से भिन्न रूप में आंकलन करते हैं। इसलिए ही भारतीय राजनीति में जाति के इस्तेमाल को जहां सवर्ण/ब्राह्मण लेखक मानवता का कलंक कह कर परिभाषित करते हैं, वहीं दुसाध उसे '*जाति चेतना का राजनीतिकरण*' कह कर उसे वंचित जातियों के उत्थान का मार्ग परिभाषित करते हैं। उनका मानना है कि सवर्ण समाज जाति चेतना के राजनीतिकरण से इसलिए डरा हुआ है, *क्योंकि जाति के ध्रुवीकरण की आंधी में ब्राह्मण समाज, क्षत्रिय समाज या वैश्य समाज के नाम पर सवर्णों का चुनाव जीतना दुष्कर है। ये तभी जीत सकते हैं, जब हिंदू समाज के अंग के रूप में मुकाबले में उतरें।* यानी कि दुसाध भारतीय राजनीति में वर्तमान समय में दो प्रकार के मोबिलाईजेशन (Mobilization) देख रहे हैं, एक धर्म के नाम पर और दूसरा जाति के नाम पर। परंतु इन दोनों में वे जातीय ध्रुवीकरण के पक्ष में हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि धर्म की राजनीति तथाकथित सवर्णों द्वारा अपना प्रभुत्व, वर्चस्व तथा शासन कायम रखने के लिए है, जबकि जातीय चेतना का राजनीतिकरण भारतीय समाज में संरचनात्क परिवर्तन के लिए वंचितों एवं शोषितों की मुहिम है। उन्हीं के शब्दों में, *आज ब्राह्मणों के नेतृत्व में जिन 10-15 प्रतिशत प्रभु जातियों का देश के अर्थतंत्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, मीडिया, उद्योग एवं वाणिज्य इत्यादि के क्षेत्र में प्रायः 90 प्रतिशत कब्जा है, उसे बरकरार रखने के लिए उनका धर्म की राजनीति से दूर जाना कठिन है। दूसरी तरफ राष्ट्रीय संसाधनों से वंचित की गई जातियों को अपनी भागीदारी हासिल करने के लिए सत्ता पर कब्जा जमाना आवश्यक है जिसके लिए जाति के नाम पर ध्रुवीकृत होने*

के सिवाय कोई विकल्प नहीं है। अत: दुसाध जाति चेतना के राजनीतिकरण को सकारात्मक दृष्टि से परिभाषित करते हैं, जो कि सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित के कारण उनकी चेतना का प्रभाव परिलक्षित करता है।

दुसाध की लेखनी सत्यता को सवर्णों से भिन्न रूप में परिभाषित करती है, उसका दूसरा उदाहरण है 'बहुजन समाज पार्टी' के आंदोलन का वस्तुनिष्ठ आंकलन। ज्यादातर बुद्धिजीवी सवर्ण एवं दलित बसपा के आंदोलन को समझने में कामयाब नहीं हो रहे हैं। कुछ जानबूझ कर, कुछ अनजाने में परंतु दुसाध उन चंद दलित लेखकों में से एक हैं, जो भारतीय समाज में बसपा के कालक्रम को समग्रता तथा उसके निहितार्थों को भली-भांति समझते हैं। मैं नहीं समझता कि हिंदी लेखन में बसपा को भारतीय संरचनात्मक परिवर्तन के एक कारक के रूप में, किसी लेखक ने ऐसा अध्ययन किया है। यहीं वे अन्य लेखकों विशेषकर सवर्ण लेखकों से सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित की वजह से एकदम भिन्न नजर आते हैं। इसलिए सवर्ण लेखक बसपा को जातीय अलगाव को बढ़ावा देने वाले एक राजनैतिक दल मान कर सांप्रदायिक ताकतों का साथी मानकर खारिज कर देते हैं। इसके विपरीत दुसाध बसपा के संस्थापक कांशीराम को भारतीय समाज का चिकित्सक तथा बसपा को संरचनात्मक परिवर्तन का संवाहक मानते हैं। उनका मानना है कि *बसपा के सत्ता में आने से दलितों में सांस्कृतिक स्तर पर भारी बदलाव आने लगा। लोगों ने हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियों को घरों से निकालकर नदी-तालाबों में डुबोना शुरू कर दिया और उनकी जगह फुले, पेरियार, आंबेडकर, गौतम बुद्ध, कांशीराम इत्यादि की तस्वीरें लगाने लगे। ऐसे में बसपा जहां चुनाव में एक राजनीतिक पार्टी नजर आती है, वहीं सामाजिक स्तर पर सामाजिक विद्रोह का दर्पण भी दिखाती है।* दुसाध का मानना है कि बसपा का विरोध राजनैतिक हलके में विरोधी दलों तथा समुदाय के अस्तित्व को सामने लाता है। वे साफ कहते हैं, *दरअसल बसपा विरोधी मुहिम के पीछे धर्मनिरपेक्षतावादी नेताओं की भाजपा (सांप्रदायिकता) विरोधी मानसिकता नहीं, उनके खुद के राजनीतिक वजूद की रक्षा की चिंता ही मूल कारण है। .....चूंकि बसपा विरोधी मुहिम में जुटे अधिकांश नेता सवर्ण हैं। इसलिए भारतीय राजनीति में जाति चेतना को लगातार बढ़ावा देने में जुटी बसपा से दहशत खा रहे हैं।*

अत: दुसाध भारतीय राजनीति को दलित/बहुजन दृष्टिकोण से परिभाषित कर पूरे डिसकोर्स के गर्भ में छिपे तथ्यों को उजागर करते हैं। वे साफ भारतीय राजनीति के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप के सरोकारों को एक पारंगत शल्यचिकित्सक की भांति काट-काट कर दिखाते हैं और फिर उसको वैकल्पिक मत के टांकों से सिल देते हैं। इसीलिए शायद वे कांशीराम को भारतीय समाज का चिकित्सक घोषित करते हैं। इतना ही नहीं वे बामसेफ को आर.एस. एस. के, बहुजन समाज को हिंदू समाज के, आंबेडकर पार्क को राम मंदिर के आमने-सामने खड़ा कर बहुजन समाज का विकल्प देने की सार्थक कोशिश भी करते हैं। उनका मानना है कि बसपा द्वारा जो क्रांति की शुरूआत की गई है, वह विश्व की अनेक क्रांतियों से भिन्न है। दुसाध के अनुसार, *दुनिया में ज्यादातर क्रांतियां समाज के निम्नतर स्तर पर पड़े लोगों को*

साथ लेकर हुई हैं। फ्रांस की राज्य क्रांति या माओ द्वारा चीन की क्रांति समाज के निचले स्तर के लोगों को साथ लेकर हुई। पर, कांशीराम ने भारत में क्रांति के इस सूत्र को उलट कर समाज के सबसे उत्पीड़ित वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों को अपना साथी बनाया। यानी कि दलित मध्य वर्ग ने इस क्रांति में योगदान किया। दलित मध्य वर्ग द्वारा क्रांति के आगाज का रहस्योद्घाटन कर दुसाध मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को ही खारिज कर देते हैं और यह बताते हैं कि अगर समाज में व्यक्तियों के मध्य समाज के ऋण से मुक्त (Pay Back to Society) की भावना को भरा जाए, तो भी क्रांति संभव है न कि शोषितों को उनका शोषण याद दिलाने से ही क्रांति आती है। है न नवीन परिकल्पना ! ऐसा स्थापित है कि वैज्ञानिक ज्ञान की क्रांति आंकड़ों के संकलन मात्र से ही नहीं, अपितु पैराडाइम (Paradigm) में परिवर्तन से आती है।[3] जब व्याख्या तथा परिकल्पना की रूपरेखा या प्रश्नों के नवीन समूह खड़े किए जाते हैं, तब ही वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के अनुसार यह इतिहास एवं सामाजिक विज्ञान के लिए भी सही है।[4] अगर इस परीक्षण को हम दुसाध के लेखों पर लागू करें, तो हम पाएंगे कि दुसाध अपने लेखों में भारतीय समाज की प्रत्येक संस्थाओं के आंकलन हेतु नवीन परिकल्पना तथा प्रश्नों का नवीन समूह खड़ा करते हैं। यह परिकल्पना है, 'भारतीय संस्थाओं में जाति का प्रकार्य' (Function of Caste in Indian Institution)। यद्यपि यह संग्रह दुसाध के लेखों का है फिर भी वे भारतीय समाज की सभी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में जाति के दृष्टिकोण से विषय प्रवेश करते हुए उसका आंकलन करते हैं।

'जातीय समाज' (Caste Society) में जाति ने अब तक परोक्ष (Latently) रूप से किस प्रकार समाज की संस्थाओं को प्रभावित किया है, उसके वे अनेक उदाहरण देते हैं। वे राज्य सत्ता, धर्म, आर्थिक जगत, सांस्कृतिक क्षेत्र, मीडिया, शिक्षण संस्थाओं आदि अनेक क्षेत्रों में दलितों को मात्र जाति के आधार पर ही वंचित एव बहिष्कृत किए जाने को अपनी लेखनी से इस पुस्तक में उठा रहे हैं। परंतु जाति की वंचना होते हुए भी योग्य दलितों को जाति के नाम पर क्रीड़ा जगत से कैसे वंचित किया गया, इसकी विवेचना अद्भुत है। दुसाध लिखते हैं कि *वर्ण-व्यवस्था द्वारा बहुसंख्यक भारत की जनता को प्रभुवर्ग द्वारा मानवेतर बनाने के बाद देश हित विरोधी जो दूसरा सबसे बड़ा कुकृत्य संपन्न किया गया, वह देश के बहुजन समाज को प्रतियोगिता के मुक्त क्रीड़ांगन से दूर रखना..... प्रतियोगिता के मुक्त क्रीड़ांगन से एकलव्यों और कर्णों को बहिष्कृत रखने की षडयंत्र की जो धारा प्राचीन भारत से शुरू हुई, वह आज तक अटूट है।* दुसाध का मानना है कि दलित/बहुजन जातियों में आसाधारण शारीरिक क्षमता है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण है, सहस्रों वर्षों से कृषि के प्राचीन व अविकसित उपकरणों के सहारे, मूलत: अपने परिश्रम पर निर्भर रह कर राष्ट्र का पेट भरना और खेलों के लिए शारीरिक क्षमता का होना अतिआवश्यक है। जो दलितों के पास तो है, परंतु तथाकथित सवर्णों के पास नहीं। इसलिए दुसाध का मानना है कि परिश्रमी जातियां ही खेलों में कमाल दिखा सकती हैं और उन्होंने दिखाया भी है। उदाहरण हेतु वे खसाबा जाधव, लिएंडर पेस, कर्णम मल्लैश्वरी, पी.टी. ऊषा, ज्योतिर्मय सिकदार के नाम भी प्रस्तुत करते

हैं। इसके विपरीत सवर्णों की खेल क्षमता पर कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि *यहां अनुत्पादक जातियों से गीत सेठी, सचिन तेंदुलकर, सुनील गासकर, विश्वनाथन आनंद इत्यादि ने वैसे खेलों में सफलता पाई है, जिनमें दमखम नहीं मात्र तकनीकी कौशल व अभ्यास के सहारे चैंपियन हुआ जा सकता है। भारत में सबसे लोकप्रिय खेल क्रिकेट में फास्ट बॉलिंग में सवर्णों का कोई खास अवदान नहीं है, क्योंकि इसमें दमखम की जरूरत है।*

भारतीय समाज की अनेक संस्थाओं के आंकलन में जाति/वर्ण, वितरण, आरक्षण, भारतीय संस्कृति के अंधकार पक्ष आदि अनेक प्रश्नों के समूह से दुसाध ने भारतीय समाज में 'केंद्र बिंदु' बने सवर्ण समाज की योग्यता एवं भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। इस प्रश्न चिन्ह से वे संतुष्ट नहीं होते, इसलिए ही वे दलित/बहुजन समाज की योग्यता एवं भूमिका को विस्तृत रूप से वर्णित करते हैं। इस पूरे डिसकोर्स में दुसाध जैक्स डेरिडा की 'डीकंस्ट्रक्शन' विध्वंस के सिद्धांत के करीब पहुंच जाते हैं। डेरिडा के 'विध्वंस' (Deconstruction) के सिद्धांत के अनुसार पश्चिमी विचार (Western Thought) 'केंद्र की धारणा' पर आधारित है और सभी अर्थ इस केंद्र पर आधारित हैं। डेरिडा के लिए 'केंद्र' वर्जित करने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने में दूसरों को वे उपेक्षित, दमित या उपांत घोषित कर देते हैं। जैसे पुरुष प्रधान समाज में पुरुष केंद्र में है और महिला उपेक्षित या उपांत में।[5] ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। भारत में यही बात सवर्णों/ब्राह्मणों या द्विजों पर लागू होती है। वे ही 'केंद्र' हैं, चाहे वे कितने ही निष्क्रिय या अयोग्य क्यों न हों और दलित/बहुजन/महिला सभी उपेक्षित/दमित या उपांत हैं। इसलिए हमें भारतीय समाज को समझने के लिए सवर्ण/द्विज के केंद्र को खंडित कर दलितों/बहुजनों का नवीन केंद्र गढ़ना होगा। दुसाध का लेखन द्विजों/ब्राह्मणों के इस केंद्र को खंडित करता है। यहां इस पुस्तक में इस केंद्र को खंडित करने हेतु ही उनका संदर्भ लेते हैं, न कि उनको महिमामंडित करने हेतु, न ही उनके वर्चस्व का बखान करने के लिए।

मुझे पूर्ण आशा है कि दुसाध के लेखों का संग्रह दलितों में नवीन चेतना का संचार करेगा। यह पुस्तक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, प्रचार-तंत्र, खेल-कूद, सिनेमा इत्यादि में व्याप्त अंतर्द्वंदों को चिन्हित करने में सहायक होगी तथा दलितों को भारत में उपरोक्त संस्थाओं में दमनकारी तत्वों के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्रोत्साहित करेगी। इतना ही नहीं यह पुस्तक तथाकथित सवर्ण/द्विज/ब्राह्मणों की संस्कृति के समानांतर दलित संस्कृति के होने का भी अहसास कराती है, जो आने वाले समय में और निखर कर सामने आएगी।

वैसे दुसाध की नवीन परिकल्पनाओं, संरचनाओं तथा वस्तुनिष्ठ आंकलन को किताब की भूमिका में समेटना संभव नहीं है। क्योंकि एक स्वतंत्र पत्रकार के रूप में उनके लेखों में मुद्दों का क्षितिज इतना व्यापक है कि एक औसत दर्जे के बुद्धिजीवी द्वारा उसका विश्लेषण संभव है ही नहीं। दुसाध के ज्ञान एवं सामान्य विज्ञान का कैनवस यू.पी. से लेकर यू.एस.ए. तक है। छोटी से छोटी गांव की जानकारी से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अश्वेतों का फिल्मों

में योगदान या आर्थिक जगत में 'डाइवर्सिटी प्रिंसिपल' सभी पर उनका समान अधिकार है। उनके सूक्ष्मतम तथा उच्चतम स्तरों के ज्ञान को पढ़कर पाठक यह सोचने पर अवश्य मजबूर होगा कि पत्रकार है या किसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर। यहां मैं पत्रकार एवं प्रोफेसर की तुलना नहीं, बल्कि जर्नलिस्ट (Journalist) एवं विशेषज्ञ (Specialist) की तुलना कर रहा हूं। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुसाध जर्नलिस्ट हैं, फिर भी वे अपने लेखों में किसी भी विषय के विशेषज्ञ की भांति ही विषय की बारीकियों को विश्लेषित करते हैं। क्या दुसाध के लिए कोई समाचार पत्र जगह बनाएगा ? जबकि दुसाध उत्तर जानते हैं, फिर भी समय एवं समाज की धारा के विरुद्ध उनका लिखना जारी है, जो उनके असामान्य संबल, कुशाग्रता तथा निष्काम क्रिया का प्रतीक है। इस असामान्य संबल के बल पर ही दुसाध ने स्वतंत्र पत्रकारिता में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है और आज वे दलित समाज के अग्रणी स्वतंत्र पत्रकारों में हैं। इसलिए ही आप दुसाध के लेखों से प्रेम कर सकते हैं या ईर्ष्या पर आप उनको कभी भूल नहीं सकते।

भवतु सब्बमंगलं।

–डॉ. विवेक कुमार
सामाजिक पद्धति अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली–110 067

संदर्भ :

1. *डेविड जैरी एंड जारिया जैरी, 2000, कॉलिन्स डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी, हार्पर कॉलिंस, नई दिल्ली।*
2. *बरजर, पी. एंड लकमैन, 1967, दि सोशल कंसट्रक्शन ऑफ रियलिटि, दि पेनग्यून प्रेस, लंदन।*
3. *टी., कुन, 1970, दि स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन, शिकागों।*
4. *थापर, रोमिला, 1992, इंटरप्रेटिंग अरली इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।*
5. *जिम पोवेल, 2000, डेरिडा फॉर बिगनर्स, ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली।*

लेखकीय

सामाजिक परिवर्तन के सूत्रों से लैस : कांशीरामवाद

मानव समाज परिवर्तनशील है, जैसा कि परिवर्तनशील समग्र सृष्टि है। कन्दरावासी अवस्था से मानव का उन्नत सभ्यता स्तर तक का आरोहण तो और कुछ नहीं, धारावाहिक परिवर्तन की परिणत अवस्था मात्र है। समाज अपने नित्य नये प्रयोजन से एक के बाद एक संस्कृति, प्रथा, अर्थनीति, शासन व्यवस्थादि के संरचना को जन्म देता आया है और यही सब मिल-जुलकर परिवर्तन का कारक बनते हैं। एक व्यवस्था के प्रयोजन की समाप्ति पर दूसरी व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण करती रही है। सामाजिक व्यवस्थादि का यह रूप परिवर्तन अंत में विकास व उन्नयन के रूप में परिणत होता है। किन्तु सिर्फ रूपान्तरण नहीं, परिवर्तन जब उच्चतर से निम्नतर अवस्था में पड़े लोगों के जीवन में सुखद बदलाव लाने में सक्षम होता है वही सामाजिक परिवर्तन प्रगति या विकास के रूप में विशेषित होता है। इस हिसाब से भारत में उन्नयनमूलक सामाजिक परिवर्तन उस परिवर्तन को ही कहा जा सकता है जो यहां की परंपरागत वितरण व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) में वितरण शून्यता (Non-distribution) का सदियों से शिकार बनी बहुसंख्यक आबादी को समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी हिस्सेदारी लेने की क्षमता और योग्यता अर्जन व उसे प्रमाणित करने की अपार, अबाध प्रतियोगिता का अवसर सुलभ करा सके। ऐसा परिवर्तन जो निम्नवर्ण में अवस्थित हजारों जातियों के लोगों को उच्चवर्ण सवर्णों की भांति समाज की सभी सुख सुविधाओं के भोग का अधिकारी बना सके। दूसरे शब्दों में Substream में पड़े लोगों को Mainstream में प्रविष्ट कराने वाला परिवर्तन ही सच्चा सामाजिक परिवर्तन कहला सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के उपरोक्त वैशिष्ट्य के आधार भारत समाज का आंकलन करने पर इसकी अपरिवर्तनशीलता मानव विकास के इतिहास के एक विस्मयकर व्यतिक्रम के रूप में नजर आती है। इसका यह चेहरा देखकर ही महान समाज विज्ञानी कार्ल मार्क्स ने खिन्न मन से लिखा है, *भारत के अतीत का राजनैतिक स्वरूप जितना भी परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, सुदूर पुराकाल से लेकर वर्तमान तक इसके सामाजिक रूप में रत्तीभर भी परिवर्तन नहीं आया है; एकदम अपरिवर्तित रह गया है। इस समाज की आर्थिक संरचना को कोई भी परिवर्तन बदल नहीं पाया है। परिणाम स्वरूप दूसरे देशों के प्राचीन व मध्ययुग के राजा, बैरन्स, नाईट्स, गिल्ड मास्टर, दास इत्यादि का जहां समाज में आज कोई अस्तित्व नहीं, यह सब परिभाषाएं श्रेणी समाज वाले देशों में अर्थहीन एवं अतीत का इतिहास मात्र रह गई है; भारत समाज के प्रागैतिहासिक ब्राह्मण, शूद्रादि आज भी वहीं आदिम महात्म लिये स्वमहिमा विद्यमान एवं संपूर्ण शक्ति से क्रियाशील है।*

वास्तव में राजा-बैरन्स और ब्राह्मण-शूद्रादि की तुलना करते हुए मार्क्स ने जो उपरोक्त टिप्पणी की है उसे बेझिझक सामाजिक परिवर्तन के इतिहास का सार कहा जा सकता है। यह एक इतनी तात्पर्यपूर्ण टिप्पणी है जिसका अवलंबन कर मानव समाज के विकास का निर्भूल चित्र देखा जा सकता है। मार्क्स ने जिन राजा, बैरन्स, गिल्ड मास्टर इत्यादि की चर्चा की है वे विश्व में विद्यमान श्रेणी समाज में मानव की स्तरीभूत श्रेणियां थी जबकि ब्राह्मण शूद्रादि जाति/वर्ण व्यवस्था के मानव समूह। मानव समाज की नैसर्गिक अग्रगति के क्रम में प्रायः विश्वमय विकसित श्रेणी समाजों Class Society की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें प्रधानतः गरीब-अमीर की दो श्रेणियों में विभाजित मानव समूहों की श्रेणीयां बराबर से परिवर्तनशील रही। ऐसे समाजों ने व्याप्त प्रतियोगिता के अवसर के कारण गरीब अपने परिश्रम और उद्यम के सहारे अमीर श्रेणी में उत्तोलित तो अमीर अपने दुर्व्यसनों व प्रतियोगिता में पिछड़ने के कारण गरीब की श्रेणी में स्खलित होते रहे हैं। श्रेणी समाजों का यह परिवर्तनवादी चरित्र प्राचीन रोम में भी कायम था जहां के लोग पैट्रिशियन, प्लेबियन, नाइट्स, व दास के रूप में विभाजित थे। मध्य युगीन यूरोप में उनका स्थान सामन्त, अणुसामन्त, गिल्डमास्टर, जर्निमैन व भूमिदासों ने ले लिया। परिवर्तनशील श्रेणी समाज में वे राजा, बैरन्स, नाइट्स, दास, भूमिदास इत्यादि विलुप्त होकर की मालिक श्रेणी और श्रमिक श्रेणी के रूप में रह गये हैं। रोम के समाज परिवर्तन पर विहंगम दृष्टि निक्षेप करने पर हम पाते हैं कि एक समय जो वहां दास थे वही आज वहां के शासक हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे डर्विन का पालित बन्दर समय के विवर्तन के साथ मानवाकृति में परिवर्तित हो गया।

राजा, बैरन्स, गिल्डकर्ता, दास इत्यादि मानव समूहों के विपरित ब्राह्मण, शूद्रादि मानव गोष्ठियां सुदूर अतीत की एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की उपज हैं, जो मूलतः संपदा संसाधनों व पेशों की वितरण व्यवस्था है। जी हां, वर्ण-व्यवस्था राष्ट्र की संपदा, संसाधनो, पेशों व सामाजिक मर्यादा की वितरण की व्यवस्था है। दैवियकृत के रूप में प्रचारित यह व्यवस्था वास्तव में मानवाकृत एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है, जिसके प्रवर्तकों का लक्ष्य चिरकाल के लिए बौद्धिक कर्म से जुड़े पेशों, भू-स्वामित्व, शासन-प्रशासन, उद्योग-व्यापारादि के अधिकार कुछ विशेष मानव समूहों के मध्य ही वितरित करना था। उनकी उस योजना के तहत अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य, मंत्रोपचार, राज्य संचालन में मंत्रणादान इत्यादि का अधिकार ब्राह्मण; भूस्वामित्व, राज्य संचालन, सैन्यकार्य इत्यादि क्षत्रिय और व्यवसाय-वाणिज्यदि का अधिकार हमेशा के लिए वैश्य नामक मानव गोष्ठी के लिए आरक्षित होकर रह गए। ये विशेष-विशेष अधिकार विशेष-विशेष मानव समूहों के लिए इस कारण चिरस्थाई होकर रह गये कि हिन्दू वितरण-व्यवस्था में इन अधिकारों के भोग के लिए विभिन्न मानवगोष्ठियां जन्म सूत्र से ही अधिकृत रही। किसी विशेष समूह के अधिकृत क्षेत्र में दूसरों का प्रवेश शास्त्रादेशों द्वारा कठोरता पूर्वक वर्जित रहे। इसमें भौतिक संसाधनों के मात्रा के अनुरूप ही विशेष-विशेष समूहों के लिए सामाजिक मर्यादा भी वितरित रही।

वर्ण-व्यवस्था में जहां सामाजिक मर्यादा सहित जागतिक सुख के समस्त संसाधन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नामक अत्यन्त अल्पसंख्यक तीन मानव समूहों के मध्य वितरित

होकर रह गये वहीं 85 प्रतिशत विपुल आबादी के प्रतिनिधि शूद्रातिशूद्रों के हिस्से में आया अधिकार संपन्न तीन वर्ण के लोगों की सेवा से जुड़े कार्य। लेकिन उच्च वर्णों की सेवा का जो कार्य बहुजनों के जिम्मे आया उस सेवा की खासियत यह थी कि यह पारिश्रमिक रहित थी। सेवा के विनिमय में उसका मूल्य मांगने की इजाजत वर्ण-व्यवस्था में नहीं रहीं। वितरणवादी वर्ण-व्यवस्था में बहुजनों को वितरणशून्यता का तो शिकार बनाया ही गया, मनुष्य रूप में इनकी मानवीय सत्ता को भी निर्ममता से अस्वीकृत किया गया। फलतः हजारों वर्षों से शूद्रातिशूद्रों के रूप में गण्य भारत का विशालतम मानव समूह पश्वाधम व नर-पशु (Human cattle) में परिणत होकर रह गया। वर्ण-व्यवस्था नामक ईश्वरकृत धार्मिक व्यवस्था में ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्यों की भांति राष्ट्र की संपदा व लाभकारी पेशों के भोग का रत्ती भर भी अधिकार न होने के कारण नर-पशुओं के लिए शिक्षक, चिकित्सक, पुरोहित, भू-स्वामी, राजा, सैनिक, व्यवसायी इत्यादि बनने का कोई अवसर नहीं रहा। वित्त में इनकी नाममात्र भी हिस्सेदारी नहीं रही। मानव सभ्यता के विशाल कालखण्ड में समग्र विश्व में जितने लोगों को घोरतर वंचना व अमानवीयता का शिकार बनना पड़ा है वह संख्या अकेले भारत के नर-पशुओं के समक्ष छोटी पड़ जायेगी। नरपशुओं का सम्पूर्ण मानव में तब्दीली ही भारत में सामाजिक परिवर्तन को सार्थकता प्रदान कर सकती है, जो नहीं हुआ इसलिए ही समाजविज्ञानी इसे एक अपरिवर्तित समाज कहकर निंदित करते रहे हैं।

बहरहाल ऐसा क्यों कर हो गया कि दूसरे देशों के दास समय के बदलाव के साथ वहां के मालिक हो गये और भारत के दास (शूद्रातिशूद्र) दास ही रह गये। इस कारण को अगर थोड़े से शब्दों में बतलाना हो तो यही कहा जा सकता है कि दूसरे देशों के वंचितों में मानव का स्वभाविक गुण-उन्नततर जीवन स्तर की चाह और वित्तवासना था जो कि ऐतिहासिक कारणों से भारत के शूद्रातिशूद्रों में पूरी तरह अविद्यमान रही। यूं तो समाज परिवर्तन के पृष्ठ में एकाधिक कारण रहे हैं पर प्रधान कारण वंचितों में बेहतर जीवन जीने की उत्कट चाह और वित्तवासना ही है। इन कारणों से ही दूसरे देशों के वंचित जनगण ने बार-बार परिवर्तन की तरंगे पैदा करने की कोशिश किया। उनके प्रयासों को प्रचलित व्यवस्था की सुविधाभोगी लोगों के विरोध और बाधाओं का भी सामना करना पड़ा। लेकिन दास जीवन से मुक्ति पाने की जबरदस्त चाह ने उनमें सर्वसाधन सम्पन्न सुविधाभोगी समूह द्वारा खड़ी की गई प्रबल बाधाओं को अतिक्रम करने का मनोबल प्रदान किया। उन्नततर जीवन जीने की लालसा ने उन्हें अपने शोषकों के विरुद्ध शक्ति प्रयोग के साथ-साथ कभी-कभी रक्तपात तक करने के लिए मजबूर कर दिया। इसी से दूसरे देशों में क्रांतियों के कई इतिहास रचे गये। ब्रिटेन में 1215 में ब्रिटिश जनगण के सशस्त्र संग्राम के द्वारा 'मैग्नाकार्टा' और ठपसस वि त्पहीज के रास्ते होते हुए 1649 में राजा चार्ल्स के सिरोच्छेद एवं 1688 में राजा जेम्स के प्रजाभय से पलायन के बाद जनगण का राज कहे जाने वाली संसदीय प्रणाली को जो पूर्णता मिली उसके मूल में, हॉब्स, लॉक जैसे क्रांतिकारी दार्शनिकों की भूमिका के बाबजूद, सर्वोपरि वहां के जनगण की अपने मानवीय अधिकारों का अर्जन एवं उन्नततर जीवन की जबरदस्त चाह थी। फ्रांस, रूस होते हुए चीन में समाज परिवर्तन का जो असाधारण इतिहास रचित हुआ उसके नायक रूसो, वाल्टेयर, लेनिन, माओ इत्यादि

जरूर रहे लेकिन शोषण की चक्की में पिसती वहां की जनता में यदि अपनी दुरावस्था से मुक्ति की चाह नहीं होती, समाज के रूप परिवर्तन की महागाथा तैयार नहीं होती।

परिवर्तन भारत में भी हुआ। हजारों वर्ष पूर्व यहां के समाज का जो चेहरा था वह आज नहीं है और आज जो है वह कल नहीं रहेगा। लेकिन यहां जो भी परिवर्तन हुआ वह ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, चीन इत्यादि की भांति क्रांतिकारी पद्धति Revolution Process नहीं, विवर्तन अर्थात Evolution Process में हुआ। जैसा कि हम सभी जानते हैं कोई प्रयास करे या नहीं, समाज में धीरे-धीरे एक परिवर्तन होते ही रहता है जिसे Evolution Process (क्रमिक विकास) कहते हैं। वहीं द्रुत गति से प्रबल बाधा को परास्त कर जब किसी चीज का आमूल परिवर्तन घटित होता है, वह क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में चिन्हित हो जाता है। ऐसे परिवर्तन के पृष्ठ में बहुधा विशेष घटना, किसी विशेष व्यक्ति या किसी विशेष मानव समूह के प्रयास व संघर्ष की विशेष भूमिका रहती है। सुदूर अतीत से ही 85 प्रतिशत आबादी को समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित एवं उसे नर-पशु व मानवेतर में परिणत कर जिस तरह उसका शोषण किया गया उससे दूसरे देशों के बहुत पहले ही भारत में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाना चाहिए था। पर, नहीं हुआ तो इसलिए कि वंचित वर्ग में अपनी दुरावस्था से मुक्ति पाने की कभी तीव्र ललक ही पैदा न हो सकी। यहां तक कि आधुनिक विश्व में द्रुत सामाजिक परिवर्तनों की असंख्य घटनायें भी इनमें क्रांतिकारी परिवर्तन की ज्वाला न भर सकीं।

अगर विशाल संख्यक भारतीय दासों में उच्च वर्ण सवर्णों की भांति अधीकारों के भोग की आकांक्षा, उन्नततर जीवन जीने की चाह और वित्त की वासना पैदा न हो सकी तो उसका कारण वर्ण-व्यवस्था का ईश्वरकृत होना था। वितरणवादी वर्ण-व्यवस्था के दैवियकृत प्रचारित किये जाने के कारण इस व्यवस्था में वितरणहीनता का शिकार होने वालों को शिकायत शोषकों से न होकर खुद से रही। इन्होंने यह मान लिया था कि उनके पूर्व जन्मों के कुकर्मों से कुपित होकर ईश्वर ने ही पापों का प्रायश्चित करने के लिए दास जीवन दिया है। निष्ठापूर्वक दास जीवन का पालन ही अगले जन्म में ब्राह्मणों की भांति सुख ऐश्वर्य व मान-सम्मान का जीवन सुलभ करा सकता है। इस विश्वास ने उनमें एक ऐसा वीभत्स संतोषबोध पैदा कर दिया कि वर्तमान जन्म में पशुवत जीवन से मुक्ति की तीव्र चाह ही पैदा न हो सकी। दूसरे देशों में परिवर्तन के लिए दासों के पेशी संचालन का एक कारण यह था उन्हें अपने शोषक के रूप में लार्ड्स, बैरन्स, गिल्ड मास्टर्स इत्यादि चेहरा साफ नजर आया था इसलिए वे इनके विरुद्ध संघर्ष के लिए उठ खड़े हुए थे। पर, भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शोषक के रूप में न नजर आकर ऐसे मानव समूह के रूप में विद्यमान थे जिन्होंने अपने पूर्व जन्म के सुकर्मों के विनिमय में ईश्वर से पुरस्कार स्वरूप श्रेयकर जीवन पाया था। अत: शोषक उनके लिए घृणा का पात्र न होकर श्रद्धा करने लायक विशिष्ट मनुष्य प्राणी थे। सच में देखा जाए तो शूद्रातिशूद्र योरोपीय लार्ड्स, डयूक, बैरन्सों का भारतीय संस्करण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का दास न होकर दैविक दास Divine slave रहे। मनुष्य रूपी मालिकों के विरुद्ध तो दास संगठित हो सकते हैं पर ईश्वर के शोषण के समक्ष तो नतमस्तक ही रहेंगे। दैविक-दासत्व के कारण वे कर्म-शुद्धता के शास्त्रादेशों को खुद ईश्वर का आदेश मानकर

सवर्णों के अधिकृत क्षेत्र में घुसने का कोई उपक्रम नहीं चलाये। इनकी मानसिकता का निर्भूल आंकलन कर ही मेरे गुरु एस.के. विश्वास निम्न टिप्पणी करने के लिए बाध्य हुए।

जाति व्यवस्था की प्रतिकूल भट्ठी में झोके गये मूल भारतीय बहुजन समाज में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। बहुजन समाज अज्ञानता के अंधकार और अशेष दरिद्रता की चक्की में पीसता हुआ, असहाय होकर एक ही (Stagnant) जीवन यात्रा का अभ्यस्त बना रहा। जातिभेद स्वरूप Sterilisation पद्धति से इनकी स्वाधीनता की इच्छा, वित्त वासना, धर्म वासना सब लुप्त हो गयी है। ये लोग चन्द्र गुप्त मौर्य का उत्तरसूरी नहीं होना चाहते। ये लोग टाटा, बिड़ला, हेनरी फोर्ड बनने की वासना नहीं पालते, न ही पोप या पुरोहित होने का दु:साहसपूर्ण सपना देखते। 'ऐनास्थेसिया' के प्रयोग के बाद जैसे जीवकोश बोध शून्य हो जाता है वैसे ही ये लोग अपमान या सम्मान की चेतना से शून्य हो गये हैं। इनमें परिवर्तन या प्रगति का कोई लक्षण नहीं है।

भारत में इवोल्यूसन पद्धति की विपरीत धारा में अगर समाज का रूप बदल न हो सका तो उसका एक अन्यतम कारण क्रांतिकारी व्यक्तित्वों की अविद्यमानता रही। दूसरे देशों में घटित द्रुत परिवर्तनों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे परिवर्तनों में प्राय: ही समाज को कुछ विरल व्यक्तित्वों का नेतृत्व मिलता रहा है। किसी असाधारण व्यक्ति की सोच जब पूरे समाज की सोच बन जाती है तभी समाज में परिवर्तन की गति का उफान आता है। ऐसा विरल व्यक्तित्व जनगण को उसकी दुरावस्था से अवगत कराकर उसे इससे मुक्ति के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है एवं प्रयोजन पड़ने में परिवर्तन के लिए खुद सक्रिय नेतृत्व प्रदान करता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज पुरुष कहलाता है। इसलिए क्रांतिकारी परिवर्तनों के साथ हाब्स, लॉक, रुसो वाल्टेयर, मार्क्स, लेनिन, माओत्से तुंग, चे गुवेवरा जैसों का नाम जुड़ा पाते हैं। पर, सिख गुरुओं को अगर छोड़ दिया जाय तो 19वीं सदी के पूर्व तब भारत में क्रांति चेतना सम्पन्न पुरुष भूमिष्ठ ही नहीं हुए। जबकि ऐसे लोगों की सर्वाधिक जरूरत भारत भूमि को ही थी। कारण, यहां के दास, दैविक दास थे जो अपने दासत्व का उपभोग कर रहे थे। दैविक दासत्व ने इनमें वीभत्स संतोष बोध भर दिया था, जिससे जानवरों से बदतर जिंदगी में बदलाव की कोई रुचि ही नहीं थी। अवश्य ही मध्ययुग में कुछ भक्त कवियों का उदय हुआ जो हिन्दू धर्म में व्याप्त कुछ खामियों आलोचना कर क्रांतिकारी के विशेषणों से भूषित हो गये। लेकिन ये असल में विशुद्ध भक्त ही थे जिन्होंने महज वैकल्पिक पूजा पद्धति दिया। यदि वास्तव में क्रांतिकारी होते हो शूद्रातिशूद्रों को डिवाइन स्लेवरी से मुक्त कर उनमें वीभत्स-संतोष बोध की जगह उग्र-असंतोष बोध पैदा करते। इसके लिए जरूरी था हिन्दू-धर्म के ध्वंस और ईश्वर के अस्तित्व को नकारने का साहसिक अभियान। कहना न होगा उनमें रंच मात्र भी चार्वाक का साहस नहीं था। वे खुद ही दैविक दास थे, तो औरों को दासत्व से कैसे मुक्त ही कराते ?

भारत में समाज परिवर्तन की करुण दशा के मूल में एक बड़ा कारण यह था कि इस देश की आर्थिक संरचना विदेशी शासन की देख-रेख में तैयार हुई थी जो मूल निवासियों की आर्थिक दशा परिवर्तन के लिए अनुकूल नहीं थी। प्राय: साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व भारत में आर्यों (ब्राह्मणों) का शासन स्थापित हुआ। इन्होंने मूल निवासियों की विशाल मानव शक्ति

को नि:शुल्क सेवा के काम में इस्तेमाल के लिए ही वर्ण-व्यवस्थाधारित आर्थिक तन्त्र को जन्म दिया, जिसमें देश की संपदा और लाभकारी पेशों में दासों को कोई हिस्सेदारी ही नहीं मिली। अवश्य ही साढ़े तीन हजार वर्ष के विशाल काल खण्ड में कुछ सौ वर्षों के लिए बौद्ध भारत में वर्ण-व्यवस्था आधारित आर्थिक संरचना ध्वंस्त हुई जिसमें शूद्रों के जीवन में व्यापक परिवर्तन जरूर हुआ उसके बाद मुसलमान काल आया जिसमें साहित्य, संगीत वास्तुकला इत्यादि में भारत नई ऊँचाईयों को छुआ। लेकिन मूल भारतीय समाज इससे अछूता रह गया।

वास्तव में इस्लाम विजेताओं के आगमन से परिवर्तन विरोधी जाति/वर्ण-व्यवस्था के ध्वंस की बेहतर संभावना उजागर हो गयी थी। कारण, मुसलमान विजेता एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में चमचमाती तलवार लेकर अरब के तपते रेगिस्तान से एक ऐसे मिशन पर निकले थे जिसके तहत मूर्ति पूजा पद्धति और सामाजिक विच्छिन्नता का खात्मा और इंसानियत का स्थापना उनका अत्याज्य कर्तव्य बनता था। यह कर्तव्य उन्हें उस हिन्दूवादी वितरण व्यवस्था के उत्स हिन्दू धर्म के अस्तित्व को विलिन करने के लिए प्रेरित कर सकता था जिसके कारण 85 प्रतिशत आबादी अधिकारविहिन मानव समूह बन नारकीय जीवन जी रही थी। लेकिन अरब विजेता इस दिशा में अग्रसर नहीं हुए तो इसलिए कि वे मिश्नरी न होकर ऐसे वीर थे जिनके लिए जन्नत समान भारत भूमि भोग का सामान मुहैय्या कराने वाली एक माध्यम थी। चूंकि ऐशो आराम के लिए शोषण अनिवार्य था इसलिए उन्होंने प्राचीन विदेशागतों के साथ दोस्ताना संबंध बनाकर इस देश के मूल निवासियों का शोषण करना अपना लक्ष्य बनाया। प्राचीन और मध्ययुगीन विदेशियों के मिलित प्रयास से बहुजनों का श्रम ताज महल, ऐश महल, मंदिर, शिवालों में परिणत होता रहा और परिवर्तन का चक्र मंद गति से चलता रहा।

मध्य काल के अरब विजेताओं की भूमिका से पूरी तरह हताश होकर कुछ मानवेतर समूहों ने शासक बदल का मन बनाया और उन्हें मिल गये अंग्रेज। 1757 में 600 अस्पृश्यों ने 200 अंग्रेजों के साथ मिलकर प्लासी युद्ध के रास्ते ब्रिटिश साम्राज्य की बुनियाद रखी जिसे 1818 में कोरेगांव के मैदान में डॉ. आंबेडकर के सजातियों के सहयोग से पूर्णता मिली। शुरू में नवाबी रोष के डर से ब्राह्मणादि सवर्ण अंग्रजों से दूर ही दूर रहे। ऐसे में मजदूर, डाकवाहक, चौकीदार, सिपाही इत्यादि बनकर अस्पृश्य ही पहले-पहल अंग्रेजों के निकट आये। बौद्धोत्तर भारत में पहली बार अंग्रेजों ने दिया अस्पृश्यों को हथियार स्पर्स का अधिकार और अस्पृश्यों ने सैनिक के रूप में दिखाया असाधारण दक्षता जो अंग्रेजी हुकमत के स्थापित होने का बना बड़ा कारण। ऐसे में भारत विजय में अंग्रेजों का साझीदार होने के कारण ब्रिटिशराज के सौजन्य से सर्व-निम्न में अवस्थित समाज में व्यापक परिवर्तन का एक बड़ा आधार मिल गया था। पर, ब्रिटिश राज इसमें सहायक न बन सका। कारण, अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार के साथ-साथ जिस ब्राह्मण समाज ने अस्पृश्यों को दूर सरका कर अंग्रेजों की निकटता जय कर ली थी, खुद अंग्रेजों द्वारा ही आर्यतत्व के आविष्कार के साथ उस समाज के साथ उनका बंधुत्व स्थापित हो गया। फलत: जबरदस्त परिवर्तनकारी ब्रिटिश राज में सुखद परिवर्तन ब्राह्मण व उसके सहयोगी समाज में आया। सर, सीआईई, राय चौधरी, रायबहादुर इत्यादि के भूषणों से मुख्यत: ब्राह्मण समाज की ही चमक

बढ़ी। लेकिन यह मानना गलत होगा कि दो सौ वर्षों के अंग्रजी राज का सुफल सिर्फ ब्राह्मण व सवर्ण समाज को ही मिला।

ब्रिटिश राज में विकसित अर्द्ध पूंजीवादी व्यवस्था, ईसाई धर्म, व्यापक सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था (स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, मेडिकल व इंजिनियरिंग कालेज) एवं नई अर्थ व्यवस्था (जमीदारी, महालवारी, रैयतवारी) के प्रभाव से भारत में प्रगतिमूलक परिवर्तन की जो बयार बही वह शूद्रातिशूद्र समाज को भी थोड़ा स्पर्स की। मैकाले के भाइयों ने भारतीय दंड संहिता लागू कर कानून की नजरों में सबको एक बराबर मनुष्यप्राणी मानने की जो प्रक्रिया शुरू किया वह बहुजन समाज के परिवर्तन में चक्के में ग्रीस का काम किया। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि बौद्धकाल के बाद पहली बार हिंदूवादी वितरण-व्यवस्था पर करारा प्रहार हुआ। हजारों वर्ष से जो सब पेशे मात्र अल्पजन सवर्णों के लिए आरक्षित थे उसे अंग्रेजों ने कानून बनाकर शूद्रातिशूद्रों के लिए भी मुक्त कर दिया। फलतः ब्रिटिश राज में ही दलित पिछड़ों को राजा, डाक्टर, इंजिनियर, वकील, अध्यापक, व्यवसायी इत्यादि बनने का भी अधिकार मिला। अगर हिंदू आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) के तहत इन्हें शिक्षा सहित समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित कर एकदम पंगु नहीं बना दिया गया होता तो अंग्रेजी राज के सौजन्य से मानवेतर समाज का चेहरा कुछ और होता। अंग्रेजी राज में गणतांत्रिक चेतना का उन्मेष भी कम बड़ी बात नहीं थी। उन्होंने ब्रिटेन से लाकर भारत में संसदीय प्रणाली की जो बुनियाद रखी उसका लाभ उठा कर स्वाधीन भारत में 85 प्रतिशत वाला मानव समूह बड़ी आसानी से सत्ता पर कब्जा जमाकर सामाजिक परिवर्तन की लहरे पैदा कर सकता था, जो दुर्भाग्यवश नहीं हुआ। लेकिन भविष्य में यदि सामाजिक परिवर्तन होगा तो संसदीय प्रणाली के रास्ते ही होगा।

ब्रितानी राज में एक बड़ी अच्छी बात यह हुई कि फादर विलियम केरी जैसे समाज संस्कारक की प्रेरणा और लार्ड मैकाले की शिक्षा, कानून नीति के सौजन्य से भारत में कई परिवर्तनकामी व्यक्तित्वों का उदय हुआ। लेकिन जातिवादी समाज में विकसित अपनी चेतना के कारण सामाजिक परिवर्तन में वे शतप्रतिशत योगदान न कर सके। इस चेतना का खुलासा करते हुए डॉ. आंबेडकर ने कहा है– *हिन्दुओं में उस चेतना का सवर्था अभाव है जिसे समाज विज्ञानी 'सर्व वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना सर्ववर्ग से संबंधित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी जाति के बारे में होती है। जब भी कोई समुदाय अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना से प्रेरित होता है तो उसमें असामाजिकता की भावना पैदा हो जाती है। यह असामाजिक की भावना ही अर्थात अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना विभिन्न जातियों के एक दूसरे से अलग होने का एक ऐसा ही विशिष्ट लक्षण है, जैसा कि अलग-अलग राष्ट्रों का। ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर-ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें और गैर-ब्राह्मणों का उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें। इसीलिए हिन्दू समुदाय विभिन्न जातियों का संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। उसका हर विरोधी वर्ग स्वयं अपने लिए और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए जीना चाहता है।*

वास्तव में समग्र वर्ग की चेतना का अभाव हिन्दुओं में इतनी बड़ी व्याधि रही कि इससे बड़े से बड़े राजा महाराजा, साधु-संत, नेता तक मुक्त नहीं। ऐसी चेतना के अभाव में ही

Continue Your Reading Journey

This preview has ended. Access the complete library and support our mission.

Join Our Inclusive Reading Community

✓ We champion diverse voices and perspectives

✓ Your support helps amplify underrepresented authors

✓ We provide free access to educational institutions

✓ Building bridges through shared stories

✓ Creating space for all narratives to be heard

Support Our Mission

Your donation enables us to:

• Curate diverse book collections

• Support authors from marginalized communities

• Provide free resources to educators

• Maintain our accessible digital library

Visit: www.diversitymission.in

Sign the diversity pledge • Make a donation • Download full library